दं स ण मू लो ध म्मो

आत्मधर्म

दं स ण मू लो ध म्मो

वर्ष : १
अंक : ४

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी
वकील

आश्विन
२००२

★

❀ जैनधर्म ❀

जैनधर्म किसी व्यक्ति के कथन, पुस्तक, चमत्कार अथवा विशेष व्यक्ति पर निर्भर नहीं है। वह तो सत्य का अखण्ड भण्डार, विश्व धर्म है। उसका आधार अनुभव है। युक्तिवाद उसका आत्मा है। इस धर्म को काल की मर्यादा में कैद नहीं किया जा सकता। यह पदार्थों के स्वरूप का प्रदर्शक है, त्रिकालाबाधित सत्यरूप है। वस्तुयें अनादि-अनंत हैं, इसलिए उनके स्वरूप की प्रकाशक तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनंत हैं।

❀ रत्नकणिका ❀

जिसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता; बिना सम्यग्ज्ञान के सम्यक्चारित्र गुण नहीं होता। निर्गुणी के मोक्ष (कर्म से मुक्ति) नहीं होती और जिसे मोक्ष नहीं, उसके निर्वाण नहीं; अर्थात् उसके संसार परिभ्रमण बना रहता है।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

एक अंक
पाँच आना

★ आत्मधर्म कार्यालय (सुवर्णपुरी) सोनगढ़ काठियावाड ★

मोक्ष साधन में पुरुषार्थ की मुख्यता

प्रश्न — यह बताइये कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर होता है या भवितव्यतानुसार होता है, या मोहादि का उपशम होने पर होता है अथवा अपने पुरुषार्थ पूर्वक उद्यम करने से होता है ? यदि प्रथम दो कारणों से मोक्ष का उपाय होता है तो फिर आप उपदेश क्यों देते हैं ? और यदि पुरुषार्थ से होता है तो इसका क्या कारण है कि सभी उपदेश सुनते हैं फिर भी उनमें से कोई तो पुरुषार्थ कर सकता है और कोई नहीं ?

उत्तर — एक कार्य के होने में अनेक कारण होते हैं। मोक्ष के उपाय में पूर्वोक्त तीनों कारण मिलते हैं; और जहाँ कार्य नहीं बनता, वहाँ तीनों कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारणों में से काललब्धि तथा जो कार्य हुआ वही भवितव्य होता है।

और फिर जो कर्म के उपशमादिक हैं, वह तो पुद्गल की शक्ति है। उसका कर्ताहर्ता आत्मा नहीं है। तथा पुरुषार्थपूर्वक जो उद्यम किया जाता है, वह आत्मा का अपना कार्य है, इसलिए आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का उपदेश देते हैं।

अब बात यह है कि यदि यह आत्मा उन कारणों के लेकर उद्यम करे जिसे कार्य सिद्धि अवश्यंभावी है तो अन्य कारण अवश्य ही मिल जायेंगे, और कार्य की सिद्धि भी निश्चय से होगी। तथा जिस कारण से कार्यसिद्धि हो अथवा न भी हो, उस कारणरूप उद्यम किया जाय तो वहाँ यदि अन्य कारण मिल जाय तो कार्य सिद्धि होती है और नहीं मिलें तो नहीं होती। किन्तु जिनमत में जो मोक्ष का उपाय बताया गया है, उससे तो मोक्ष निश्चय से प्राप्त होता ही है।

इसलिए जो जीव श्री जिनेश्वर के उपदेशानुसार पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का प्रयत्न करता है, उसे तो काललब्धि और भवितव्य भी प्राप्त हो चुका समझिये तथा उसके कर्मों का उपशमादि भी हो चुका है, तभी तो वह ऐसा प्रयत्न करता है। तात्पर्य यह है कि जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का प्रयत्न करता है, उसे सब कारण मिल जाते हैं और मोक्ष की प्राप्ति भी अवश्य होती है—ऐसा निश्चय समझना चाहिये। तथा जो जीव, पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसे काललब्धि और भवितव्य की प्राप्ति नहीं है तथा उसके कर्मों का उपशमादि भी नहीं हुआ है; तभी तो वह पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता और न उसे कोई कारण प्राप्त होते हैं; और इसीलिए उसे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा निश्चय समझना चाहिये।

और तुम जो यह कहते हो कि उपदेश तो सभी सुनते हैं, किन्तु उनमें से कोई मोक्ष का उपाय कर सकते हैं और कोई नहीं, इसका क्या कारण है ? इसका समाधान यह है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं, वे तो मोक्ष का उपाय कर सकते हैं, किन्तु जो पुरुषार्थ नहीं करते, वे मोक्ष का उपाय नहीं कर सकते। उपदेश तो केवल शिक्षा है, किन्तु फल तो वही मिलेगा जैसा पुरुषार्थ करेगा।

प्रश्न—द्रव्यलिंगी मुनि गृहस्थपना छोड़कर मोक्ष के लिये तपश्चर्यादि करता है, किन्तु उसे पुरुषार्थ करने पर भी मोक्षप्राप्ति नहीं होती; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ करने से कोई सिद्धि नहीं होती।

उत्तर—अन्यथा पुरुषार्थ करके फलसिद्धि चाहनेवाले को कैसे यथार्थ फलप्राप्ति हो सकती हैं ? तपश्चरणादि व्यवहार साधन में अनुरागी होकर प्रवृत्ति करने का फल शास्त्रों में शुभबंध बताया है; और वह इससे मोक्ष चाहे तो यह कैसे हो सकता है ? यह तो एक भ्रम ही है।

प्रश्न—इस भ्रम का कारण भी तो कोई कर्म ही है, पुरुषार्थ क्या करे ?

उत्तर—सत्योपदेश से निर्णय करने पर भ्रम दूर होता है। वह ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता कि जिससे भ्रम दूर हो। यही कारण है कि उसे भ्रम रहता है। यदि निर्णय करने का पुरुषार्थ करे तो भ्रम का कारण जो मोह का है, उसका उपशमादि होने पर भ्रम दूर हो जाता है। निर्णय करते समय परिणामों की विशुद्धता होने से मोह का स्थिति-अनुभाग भी कम हो जाता है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिक पत्र

वर्ष : १
अंक : ४

: आत्मधर्म :

आश्विन
२००२

जिनवाणी स्तवन

महिमा है अगम जिनागम की, महिमा है अगम जिनागम की ॥
॥टेक॥
जाहि सुनत जड़ भिन्न पिछानी, हम चिनमूरति आतम की ॥
महिमा० ॥१॥
रागादिक दुखकारन जाने, त्याग बुद्धि दीनी भ्रम की।
महिमा०-
ज्ञान जोति जागी उर अंतर, रुचि बाढ़ी पुनि शमदम की,
महिमा०- ॥२॥
कर्मबंध की भई निर्जरा, कारण परम्परा क्रम कीं,
महिमा०-
भागचंद शिव लालच लाग्यो, पहुंच नहीं है जहँ जम की,
महिमा०- ॥३॥

अर्थ

जिनागम की महिमा अगम्य है। मैंने उसे सुना है, और समझा है कि मैं चिन्मूर्ति (ज्ञानमूर्ति) आत्मा सबसे भिन्न हूँ ॥१॥

जो भ्रमरूप बुद्धि थी, उसे त्याग कर यह जान लिया है कि रागादि दुःख के कारण है। इसलिये मेरे अन्तर में ज्ञानज्योति जाग गई है और स्वरूप की रुचि बढ़ी है। (सम्यग्दर्शन ज्ञानपूर्वक) तथा शम (शुद्ध चारित्र) प्रगट हुआ है, और इसीलिए विभावभाव का दमन हुआ है ॥२॥

परमपुरुषार्थ के कारण कर्मबंध की निर्जरा हुई जो (कर्मबंध) संसार परम्परा का कारण था, और उस मोक्ष की लालच लग गई है, जहाँ यम (मरण) की पहुँच नहीं है; यों पं. भागचंदजी कहते हैं ॥३॥

परम पूज्य सद्गुरुदेव के व्याख्यान से

अहिंसा का स्वरूप

''अहिंसा परमो धर्मः'' वाक्य का यह अर्थ है कि आत्मा शुद्ध ज्ञायकस्वभावरूप अखण्ड है, उसकी अन्तर श्रद्धा करके उसमें एकाग्र रहना, इसी का नाम अहिंसा है, और वही परम धर्म है।

दूसरे को न तो कोई मार सकता है और न जिला सकता है, केवल वैसे भाव करे। दूसरे को मारने के भाव अशुभ-पाप भाव है और दूसरे को जिलाने के भाव शुभभाव-पुण्य है। किन्तु वह वास्तविक अहिंसा नहीं है। क्योंकि स्वयं दूसरे को न तो मार सकता है और न जिला सकता है, फिर यों मान लिया कि मैं दूसरे को मार या जिला सकता हूँ; इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपने को पर का कर्ता माना; बस, इसी में स्वभाव की हिंसा है। लोग, पर-दया-पालने को अहिंसा कहते हैं, किन्तु सचमुच में वह अहिंसा ही नहीं है।

सच बात तो यह है कि अधिकांश आदमी हिंसा-अहिंसा की सच्ची व्याख्या ही नहीं जानते। उसकी सच्ची व्याख्या इस प्रकार है:—

लोग, जड़ शरीर और चैतन्य आत्मा को पृथक् कर देने को हिंसा कहते हैं; किन्तु हिंसा की यह व्याख्या सत्य नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्मा तो सदा से पृथक् थे ही। उन्हें पृथक् करने की बात केवल औपचारिक है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञायक शरीर से अभेद है। वह पुण्य-पाप की प्रवृत्ति से रहित चैतन्य ज्ञानमूर्ति है। इस स्वरूप को न मानकर, पुण्य-पाप को अपना मान लिया, उसने अपने चैतन्य आत्मा को उसके ज्ञायक शरीर से पृथक् माना, यही स्वहिंसा है, अथवा अपने को भूलकर पर में जितनी सुखबुद्धि मानी, उतनी स्वहिंसा ही है। कोई पर की हिंसा नहीं कर सकता।

आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है। जो वस्तु है, वह त्रिकाल अपने आधार पर निर्भर रहती है, इसलिए आत्मा निज स्वभाव से ही टिक रहा है। चूंकि आत्मा निज पर निर्भर है, फिर भी उसे पुण्य अथवा रागादि का आश्रय मानना अर्थात् रागादि को अपना मानना या स्वभाव को न मानना (स्वभाव का घात करना) हिंसा है या अहिंसा?

आत्मा के संग से अलग होकर और परद्रव्य के संग के कारण जब स्वभाव से च्युत होकर पर के ऊपर लक्ष्य जाता है, तभी पुण्य-पाप की वृत्ति होती है। उस वृत्ति को पुण्य-पापरहित

स्वभाव में खतिया लेना, अथवा उससे स्वभाव के लिये कोई लाभ मान लेना चैतन्य के स्वभाव का खून करना है; और वही अपनी वास्तविक हिंसा है और उस पुण्य-पाप को अपना न मानकर केवल ज्ञायक रूप में अपने को पृथक्-जैसा है, उसी स्वभाव में मानना, सो सच्ची अहिंसा है।

चैतन्य तत्त्व पर से बिल्कुल निराला है, वह निज से टिकता है। फिर भी चैतन्य तत्त्व को पराधीन मानना, अथवा पर की सहायता की आवश्यकता मानना ही हिंसा है; और इस पराधीन मान्यता का टल जाना अहिंसा है।

तीर्थंकर प्रकृति उपादेय नहीं है

सम्यग्दृष्टि जीव रत्नत्रयरूप परिणत हुए आत्मा को ही मोक्षमार्ग जानता है। यद्यपि उसे सम्यक्त्वादि गुण की भूमिका में राग के कारण तीर्थंकर नाम प्रकृति आदि शुभ (पुण्य) प्रकृतियों का (कर्मों का) अवांछित वृत्ति से बंध होता है, फिर भी वह उसे उपादेय नहीं मानता। कर्म प्रकृतियों को त्यागने के योग्य ही मानता है।

(परमात्मप्रकाश)

प्रश्न—जो मान्यता अनादि से चली आ रही है, उसका नाश कर देना खून नहीं कहलायेगा?

उत्तर—योगीन्द्रदेव ने कहा है कि अहो! अनादि से साथ में रहनेवाले बांधवों (विकार अज्ञान) का ज्ञानियों ने घात कर दिया, वह उनने बंधुओं का घात किया है, फिर भी वह हिंसा नहीं है। क्योंकि उन बांधवों का तो नाश करना ही चाहिये। यही अहिंसा है।

इस प्रकार हिंसा-अहिंसा का यथार्थ स्वरूप है। हिंसा-अहिंसा पर में नहीं है, किन्तु अपने स्वभाव में ही है। लोग हिंसा और अहिंसा को बाहर से देखते हैं, और उसे मानते भी हैं किन्तु वह यथार्थ नहीं है। ★

आत्मधर्म के तमाम पाठकों से हमारी यह हार्दिक प्रार्थना है कि आप अपनी प्रति अध्यात्म रुचि वाले भाई-बहिनों को पढ़ने के लिये दीजिये।

स्व. पंडित शिरोमणी टोडरमल्लजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक से

सभा में अध्यात्मोपदेश

कोई जीव कहता है कि द्रव्यानुयोग (जिन में शुद्धात्मा का कथन हो ऐसे शास्त्रों) में व्रत, संयमादि व्यवहार धर्म की हीनता बताई गई है; और सम्यग्दृष्टि के विषय भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है। इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्दी बनकर पुण्य छोड़कर पाप में प्रवृत्ति करेंगे, इसलिए उन्हें द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ न तो पढ़ना चाहिये और न सुनना चाहिये। उसका समाधान करते हुए कहते हैं:—

यदि मिश्री खाने से गधा मर जाता है तो कोई मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ देते? उसी प्रकार यदि विपरीत बुद्धि मानव, अध्यात्म ग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्दी बन जाता है तो इसीलिये विवेकी मानव भी अध्यात्म ग्रंथों का अभ्यास तो नहीं छोड़ देगा? हाँ, इतना वह अवश्य करेगा कि जहाँ पद-पद पर स्वच्छंदी होने का निषेध किया गया है, वहाँ उसे वह पूरे ध्यानपूर्वक सुनेगा, और वह स्वच्छंदी होने से बचा रहेगा। फिर भी यदि किसी एकाध बात को सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छंदी बन जाय तो इसमें ग्रन्थ का क्या दोष! वह तो उसी व्यक्ति का दोष है।

यदि झूठी-सदोष कल्पनाओं को लेकर अध्यात्मशास्त्रों के पढ़ने-सुनने का निषेध किया जायेगा तो, मोक्षमार्ग का ही निषेध हो जायेगा, क्योंकि मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो अध्यात्मशास्त्रों में ही है। जैसे मेघ वृष्टि होने से बहुत से जीवों का कल्याण होता है, किन्तु साथ ही किसी को हानि भी हो सकती है; केवल इसी दृष्टि से मेघ का निषेध तो नहीं किया जाता! उसी प्रकार सभा में अध्यात्मोपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है; किन्तु यदि कोई उल्टा पाप में प्रवृत्ति करे तो उसी को मुख्य मानकर अध्यात्म शास्त्रों का निषेध नहीं किया जा सकता!

और फिर यदि कोई अध्यात्म ग्रन्थों को सुनकर स्वच्छन्दी हो जाता है तो वह तो पहले से ही मिथ्यादृष्टि था, और आज भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। हाँ, हानि केवल इतनी ही रही कि जो सुगति होना चाहिये वह न होकर कुगति ही होगी। और अध्यात्मोपदेश न होने पर बहुत से जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव हो जायेगा। इसलिये इस प्रकार बहुत से जीवों का बुरा होगा, इसलिए अध्यात्मोपदेश का निषेध करना उचित नहीं है।

निम्न दशावालों के लिये कौन सा उपदेश योग्य है?

शंका :—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्मोपदेश उत्कृष्ट है, और वह उसी को कार्यकारी हो

सकता है जो उच्च दशा को प्राप्त हो। इसलिये निम्नदशावालों को तो व्रतसंयमादि का ही उपदेश दिया जाना योग्य है।

समाधान:—जिनमत में तो यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त होता है, बाद में व्रत होता है और सम्यक्त स्वपर का श्रद्धान होने पर होता है, तथा वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो और फिर उसके बाद चरणानुयोगानुसार व्रतादि धारण करके व्रती हो। इसप्रकार मुख्यतया हो निम्न दशा में ही द्रव्यानुयोग विशेष कार्यकारी है तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती हुई न दीखे उसे पहले किसी व्रतादि का उपदेश दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि उच्चदशावाले को अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास और अध्यात्मोपदेश श्रवण करना चाहिये—इस धारणा के अनुसार निम्न दशावालों को उससे पराङ्मुख होना ठीक नहीं है।

पुण्य-पाप का ग्रहण और त्याग

निज शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न जो वीतराग सहजानंद एकरूप सुख रस का आस्वाद है; उसकी रुचिरूप सम्यग्दर्शन, निज शुद्धात्मा में वीतराग नित्यानंद स्वसंवेदन रूप सम्यग्ज्ञान और वीतराग परमानंद परम समरसी भाव से आत्मा में निश्चय स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र, इन तीनों रूप में परिणत हुए आत्मा को जो जीव मोक्ष का कारण नहीं जानता, वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय जानता है।

(परमात्मप्रकाश)

निम्न दशावाले को वह स्वरूप प्रतिभासित होता है या नहीं ?

शंका:—उच्च उपदेश का स्वरूप निम्न दशावाले को जँच ही नहीं सकेगा–उसे प्रतिभासित नहीं होगा।

समाधान:—वह अन्य सभी कामों में अपनी चतुराई बताये और यहाँ मूर्खता प्रगट करे, यह क्यों कर उचित माना जाय ? अभ्यास करने पर स्वरूप प्रतिभासित होता ही है। और अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा बहुत भासित होता है; किन्तु यदि सर्वथा निरुद्यमी होने की पुष्टि की जाय तो जिनमार्ग के द्वेषी कहलायेंगे।

इस निकृष्ट काल में क्या इस उपदेश की मुख्यता उचित है ?

शंका:—यह निकृष्ट काल है, इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेश की प्रधानता ठीक नहीं है।

समाधान:—यह काल साक्षात् मोक्ष प्राप्त नहीं होने की अपेक्षा से निकृष्ट है; किन्तु

आत्मानुभवादि द्वारा सम्यक्त्वादि होने की मनाई इस काल में नहीं है; इसलिये आत्मानुभवादि के लिये द्रव्यानुयोग का अभ्यास करना आवश्यक है। मोक्षपाहुड़ में भी कहा है:—

अज्जवि तिरयणसुद्धो अप्पा झाएवि लहाइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआणिब्बुदि जंति॥

अर्थ—इस पंचम काल में भी जो जीव सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि से युक्त होते हैं, वे आत्मध्यान करके इन्द्रपद तथा लौकान्तिक देव पद पाते हैं; और फिर वहाँ से आकर निर्वाण पाते हैं। इसलिए इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश विशेषतया आवश्यक है। ★

अनेकान्त धर्म सर्वज्ञ का मत अनेकान्त है

परम पूज्य सद्गुरुदेव के व्याख्यान से

अनेकान्त=एक वस्तु में वस्तुपने की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों को प्रकाशित करना अनेकान्त है। (हिंदी समयसार, पृष्ठ ५४५)

अथवा दूसरे रूप में अनेकान्त का स्वरूप कहा जाय तो दो विरोधी शक्तियों को प्रकाशित करनेवाला और वस्तु को सिद्ध करनेवाला अनेकान्त है। भगवान ने दो नय कहे हैं। निश्चयनय और व्यवहारनय।

निश्चयनय स्वभावाश्रित है और व्यवहारनय पराश्रित-निमित्त आश्रित है।

उन दोनों को जानकर निश्चय स्वभाव के आश्रय से पराश्रित व्यवहार का निषेध करना, सो अनेकान्त है। परन्तु—

(१) यह कहना कि कभी स्वभाव से धर्म होता है और कभी व्यवहार से भी धर्म होता है, यह अनेकान्त नहीं है, प्रत्युत एकान्त है।

(२) स्वभाव से लाभ होता है, और कोई देव, गुरु, शास्त्र भी लाभ करा देते हैं, यों माननेवाला दो तत्त्वों को एक मानता है, अर्थात् वह एकान्तवाद मानता है।

यद्यपि व्यवहार और निश्चय दोनों नय हैं; परन्तु उनमें से एक (व्यवहार) को मात्र "है" यों मानना और दूसरे (निश्चय) को आदरणीय मानकर उसका आश्रय लेना, यही अनेकान्त है।

आत्मा का स्वरूप अनेकान्त है।

स्वभाव से शुद्ध, नित्य; पर्याय से अशुद्ध, अनित्य; उसमें पर्याय पर दृष्टि व्यवहार है और स्वभाव पर दृष्टि निश्चय है। दोनों को मानकर निश्चय का आदर करना अनेकान्त है और वह निश्चय स्वभाव के बल से ही धर्म होता है।

भगवान महावीर प्ररूपित अनेकान्त धर्म का वास्तविक स्वरूप

शासनोपकारी सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन

जुगलकिशोरजी मुख्तार (संपादक 'अनेकान्त') की विनति से अनेकान्त के विशेषाङ्क में प्रकाशनार्थ परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का (ता. ११-१२ जुलाई सन् १९४४ के दिन दिये हुए समयसार के पाँच कलशों का) प्रवचन भेजा था, सरकारी अड़चनों के कारण विशेषाङ्क प्रकाशित नहीं हुआ; किन्तु उस व्याख्यान अनेकान्त के छेल्ला अंक में प्रगट हुआ है। 'आत्मधर्म' के पाठक भी यह मननीय व्याख्यान का स्वाध्याय कर सकें, इसलिए आत्मधर्म में प्रकाशित किया जाता है। [संपादक]

सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः।
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥

हर एक वस्तु स्वपणे (स्व की अपेक्षा) है और परपणे (पर की अपेक्षा) नहीं है, यह अनेकान्त है। आत्मा पर-स्वरूप से नहीं है; पर, आत्मा के स्वरूप से नहीं है। दोनों पदार्थ अनाद्यनन्त भिन्न है। एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ का आश्रय मानना, यह ही संसार का कारण है। हर एक वस्तु और उसका गुण-पर्याय स्वपणे है और परपणे अभावस्वरूप है। पर का परपणे अस्तित्व है, और आत्मपणे नास्तित्व है। इस तरह आत्मा, आत्मपणे है, परपणे नहीं है। जिस स्वरूप से आप नहीं है, उस स्वरूप से अपने को मानना, यह एकान्तवाद है। आचार्यदेव ने इस कलश में एकांतवादी को पशु कहा है, वह संसार में अनंतकाल भ्रमण करनेवाला है।

इस अनेकान्त के चौदह प्रकार में तो जैनदार्शनिक रहस्य आ जाता है। हरेक वस्तु का अस्ति-नास्ति स्वतंत्र स्वभाव है। हरेक वस्तु स्व से अस्तिरूप है और पर से नास्तिरूप है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु का किंचित्मात्र सहाय मानने वाला एकांतवादी है, वह जैनदर्शन का नाश करनेवाला है।

कुनय की वासना से वासित हुआ एकांतवादी—अज्ञानी मानता है कि शरीरादि अच्छा

रहे, धनादि की अनुकूलता हो, कुटुम्बादि हो, तब धर्म हो सकता है। ऐसा माननेवाले ने आत्मा का धर्म पर के आधीन माना है, अर्थात् उसने आत्मा और परपदार्थ को एक माना है, उसको आचार्यदेव ने इधर पशु कहा है।

आत्मा, पर की अपेक्षा से नास्तिरूप है और पर, आत्मा की अपेक्षा से नास्तिरूप है। इस प्रकार अनेकान्त का स्वरूप नहीं स्वीकार कर जो परवस्तु में निज आत्मा का अस्तित्व मानकर-आत्मा का स्वभाव पराश्रित मानकर और परद्रव्य में स्वपन के भ्रम से परद्रव्यों में लक्ष्य करके अटकता है—ऐसा स्व-पर को एक मानने वाला जीव एकांतवादी पशु है—ऐसा इस कलश में कहा है।

एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से सहाय मिले, ऐसा जिसने माना है, उसने सर्व द्रव्य में एकपना माना है। परवस्तु से निज को किंचित्मात्र गुण-दोष का होना जो मानते हैं, वे मूढ़ हैं। परवस्तु कुछ भी हो किन्तु वह मुझको लाभ-अलाभ करने में समर्थ नहीं हैं—इसका जिसको ज्ञान नहीं है और परवस्तु अनुकूल हो तो मुझको लाभ होंगे—ऐसा मानकर जो पर में रुक जाता है, वह मूढ़ पशु जैसा है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

परवस्तु आत्मा के आधीन नहीं है और आत्मा परवस्तु के आधीन नहीं है, इससे यह फलित हुआ कि परवस्तु से आत्मा को किंचित्मात्र भी लाभ-हानि नहीं है। मेरा स्वभाव मुझमें मुझसे ही है, ऐसा श्रद्धान जिसका नहीं है, वह आत्मा का धर्म पर में मानकर—अपना स्वभाव पर के आधार है—ऐसा मानकर परद्रव्य में स्वपना मानता है, वह एकान्तवादी है। अनेकान्तवादी ज्ञानी जानता है कि मेरे स्वभाव में पर नहीं, परवस्तु में मैं नहीं हूँ, तब जिस वस्तु का मुझमें अभाव हैं, वह अभावरूप वस्तु मुझको लाभ-हानि पहुँचायेगी—ऐसा कभी नहीं बनेगा। अभावरूप वस्तु से यदि किसी को कुछ भी होवे, तब शशक का सींग लगने से अमुक पुरुष मर गया ऐसा प्रसंग आवेगा। किन्तु मेरे आत्मा में कर्म नहीं, कर्म में मैं नहीं; शरीर में आत्मा नहीं आत्मा में शरीर नहीं; दोनों वस्तु भिन्न हैं। एक वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव है—ऐसा जानने वाला अनेकान्तवादी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा समग्र परवस्तु की अपेक्षा अपना अभाव मानता है। और स्व की अपेक्षा पर का अभाव मानता है, इससे वह परवस्तु से किंचित् भी लाभ-हानि मानता नहीं है। किन्तु हरेक वस्तु का एक-दूसरे में नास्तिपणे है, इससे मेरा स्वभाव मुझमें है, स्वभाव की शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र वह भी मुझसे ही है—ऐसा मानता है और जिसकी शुद्ध ज्ञानमहिमा निर्मल है—ऐसे स्वद्रव्य का ही आश्रय करता है। प्रत्येक द्रव्य अनाद्यनंत भिन्न रहकर सर्व निज-निज की अवस्था में कार्य कर रहे हैं, कोई किसी को सहायक नहीं होता है—ऐसा जाननेवाला धर्मात्मा, परद्रव्य का आश्रय कैसे करे?

भावार्थ— 'मैं परपणे नहीं हूँ, स्वपणे हूँ' ऐसा नहीं माननेवाले पशु समान एकांतवादी आत्मा को सर्व परद्रव्यरूप मानता है, उसको अपना भिन्न स्वभाव का ज्ञान नहीं है। भिन्नत्व की श्रद्धा भिन्नत्व का ज्ञान और भिन्नत्व की स्थिरता बिना मुक्त नहीं हो सकता। जो वस्तु मुझमें नहीं हैं, वह मुझको क्या करे? मुझमें अभावरूप वस्तु मुझमें कुछ भी कार्य नहीं कर सकती। आत्मा पर में अभावरूप होने से, वह पर में कुछ भी नहीं कर सकती और परवस्तु, आत्मा की अपेक्षा से आत्मा में अभावरूप होने से परवस्तु आत्मा का कुछ भी नहीं कर सकती। कर्म, आत्मा से पर है, उससे वह आत्मा को हैरान नहीं कर सकता।

यह अनेकान्त जैनदर्शन की जड़ (मूल) है। यह सिद्धांत अनादि से संसारी जीवों के ख्याल में आया नहीं है कि आत्मा में पर का अभाव है और पर में आत्मा का अभाव है। हर एक वस्तु स्व से अस्तिरूप और पर से नास्तिरूप है—ऐसा नहीं माननेवाला एकांतवादी है, उसको पर से भिन्न अपना स्वरूप का ज्ञान नहीं है।

स्वपणे है और परपणे नहीं—ऐसा कहने से परपदार्थ की भी सिद्धि हो जाती है। यदि सर्व मिलकर एक ही वस्तु हों, तब एक में विकार नहीं होगा; क्योंकि स्वभाव में विकार नहीं है। यदि अकेला पदार्थ में विकार हो, तब विकार ही स्वभाव हो जायेगा, इससे विकार के वक्त अन्य वस्तु की हाजरी होती है, उसका लक्ष्य करके आत्मा स्वयं अपने में विकार करता। वस्तु का अस्तित्व तो है ही किंतु प्रत्येक स्वपणे है, परपणे नहीं है। एक वस्तु को ''स्वपणे है'' ऐसा कहते ही ''परपणे नहीं है'' ऐसा अनेकान्त स्वयमेव ही प्रकाशता है। वस्तु स्वपणे है—ऐसा कहते समय उसमें पर का अभाव है—ऐसा आ जाता है। स्व में जिसका अभाव है, वह वस्तु स्व को कुछ लाभ या हानि नहीं कर सकती। शरीर की किसी चेष्टा से आत्मा को लाभ या हानि नहीं होती, क्योंकि आत्मा की अपेक्षा से शरीर का आत्मा में अभाव है। उसी तरह आत्मा की इच्छा से शरीर की अवस्था होती नहीं है, क्योंकि इच्छा का शरीर में अभाव है। इस अनेकान्त का ज्ञान जिसको नहीं है, उसको आचार्यदेव ने पशु कहा है। आत्मा शरीर का कुछ करने की इच्छा करे किन्तु उस इच्छा का शरीर में अभाव है, इससे जो इच्छा शरीर में अभावरूप है, वह शरीर का क्या करे? इच्छा राग है, उसका आत्मा की अवस्था में सद्भाव है, किन्तु शरीर में तो राग का अभाव है, जो अभावरूप है वह क्या करे? उस ही प्रकार इच्छा में शरीर का तथा कर्म का अभाव है, तब शरीर व कर्म इच्छा में क्या करे? अर्थात् शरीर का कर्म इच्छा नहीं करता है। इच्छा में कर्म की नास्ति है, तब कर्म इच्छा को क्या करे? कर्म निमित्त है और इच्छा में निमित्त का अभाव है, इससे कर्म के कारण से इच्छा नहीं है।

इच्छा में पर का अभाव है और पर में इच्छा का अभाव है। इच्छा, आत्मा की क्षणिक विकारी अवस्था है, उसमें कर्म का अभाव है, तब कर्म, इच्छा में क्या करे? इस तरह अनेकान्त को जाननेवाला ज्ञानी सर्व पर से अपना नास्तित्व मानकर स्वद्रव्य में रहता है।

परद्रव्य का विषय छोड़कर चलिये अंदर। अब रही इच्छा। इच्छा आत्मा में होनेवाली विकारी क्षणिक अवस्था है, उस क्षणिक इच्छा जितना आत्मा नहीं है। त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा में क्षणिक इच्छा का अभाव है और इच्छा में त्रिकाली स्वभाव का अभाव है। इस तरह स्वभाव में इच्छा नहीं और इच्छा में स्वभाव नहीं। क्षणिक इच्छा जो होती है, उसको अपनी मानना वही ही संसार है। वस्तुदृष्टि से विकार का अभाव है, इससे वस्तुदृष्टि में संसार नहीं है। मात्र 'इच्छा मेरी' ऐसी दृष्टि की विपरीत मान्यता में संसार है।

हर एक वस्तु स्वपणे है, परपणे नहीं है। यदि वस्तु परपणे भी अस्तिरूप हो, तब दो वस्तु एक हो जाये, किन्तु दोनों वस्तु भिन्न होने से एक की दूसरी में नास्ति है। देव-गुरु-शास्त्र भी पर हैं, उसका मेरे में अभाव है। वह अभाव वस्तु के आधार से (देव-गुरु-शास्त्र के आधार से) मेरा धर्म नहीं है, मेरा स्वभाव मेरापणे है और मेरे धर्म का संबंध मेरी साथ ही है। इस तरह अपने स्वभाव के आश्रय से ही धर्म है।

तू धर्म करना चाहता है कि नहीं—ऐसा प्रथम तू निर्णय कर। यदि धर्म करना चाहता हो तब ''पर के आश्रित मेरा धर्म नहीं है'' ऐसी श्रद्धा द्वारा पराश्रय छोड़। पर से जो जो अपने में होना माना है, उस मान्यता को सम्यग्ज्ञान से जला दे। ''मेरा स्वभाव मुझमें है, वह कभी भी पर में नहीं गया है'' ऐसा श्रद्धान कर। स्वद्रव्य में ही स्थिरता कर, यह ही धर्म है।

जगत की अपेक्षा से आत्मा असत् हैं, आत्मा की अपेक्षा से जगत् असत् है, किन्तु आत्मा की अपेक्षा से आत्मा और जगत् की अपेक्षा से जगत् दोनों सत् हैं, इस तरह पर से असत् और स्व से सत्—ऐसा अपने स्वरूप को जानकर ज्ञानी, स्वद्रव्य में विश्राम करता है; उससे विरुद्ध अपने स्वरूप को परपणे माननेवाले अज्ञानी को कहीं भी विश्रामस्थान नहीं है। इस तरह कलश २५३ में परद्रव्य से असतपने का प्रकार कहा।

अब कलश २५४ में स्वक्षेत्र से अस्तित्व का प्रकार कहा जाता है।

भिन्नक्षेत्र-निषण्ण-बोध्य-नियत-व्यापार-निष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतममितः पश्यन्पुमांसं पशुः।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिरवात-बोध्य-नियत-व्यापारशक्तिर्भवन्॥२५४॥

हर एक वस्तु अनेकान्तात्मक होने पर भी, वस्तु का एक ही पक्ष मानकर सर्व पक्ष को नहीं देखने वाला एकान्तवादी एक अपेक्षा पकड़कर उतना ही वस्तु को मान लेता है, वह वस्तुस्वरूप से अज्ञात है। एक बार चार जन्मांध पुरुष, जिन्होंने हाथी को कभी नहीं देखा था; हाथी कैसा होता हैं, इसका निर्णय करने को बैठे। उनमें से एक के हाथ में हाथी की पूंछ आई, वह पूंछ को ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी रस्सी जैसा है;' दूसरे के हाथ में हाथी का पांव आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी स्तम्भ जैसा है;' तीसरे के हाथ में हाथी का कान आया, वह उसको ही हाथी मानकर कहता है कि 'हाथी सूप जैसा है;' चौथे के हाथ में सूंड आई, उसको ही हाथी मानकर वह कहता है कि 'हाथी मुसल जैसा है'। इस तरह हाथी के सत्य-स्वरूप का अनजान ऐसे सर्व ही अंध पुरुषों ने हाथी के एक-एक अंग को ही हाथी ही मान लिया। वैसे ही अज्ञानी-आत्मस्वरूप का अनजान ऐसा जीव एक अपेक्षा को ही पूरा वस्तु का स्वरूप मान बैठता है। जैसे कि वस्तु परपने से नास्तिरूप है, ऐसा कहने पर स्वपने भी नास्तिरूप मान बैठता है; स्वपने है—ऐसा कहने पर परपने भी है, ऐसा मान बैठता है; पर की अपनपने नास्ति है—ऐसा कहने पर, पर की सर्वथा नास्ति मान लेता है और सामने होने वाली वस्तु उसकापने है, ऐसा कहने पर अपने में भी पर की अस्ति मान बैठता है, इस प्रकार एक अपेक्षा को पकड़ कर उस ही के प्रमाण पूरी वस्तु का स्वरूप मान बैठता है, वह वस्तु के सच्चे स्वरूप से अनजान है—एकान्तवादी है, उसको आचार्य ने इस कलश में पशु कहा है।

आत्मा सदा अपने असंख्य प्रदेशों में ही है। परक्षेत्र में रहने वाले ज्ञेय पदार्थों का आत्मा मात्र ज्ञाता होने पर भी 'यह परक्षेत्र मेरा है' इस तरह परक्षेत्रों को स्वक्षेत्रपने मानकर सर्वथा एकान्तवादी अपना नाश करता है; शरीरादि परज्ञेयरूप अपने को मानकर अज्ञानी परलक्ष्य में प्रवर्तता है, ज्ञान का स्व-परप्रकाशक स्वभाव होने के कारण से ज्ञान में परवस्तु दिखती है, इससे 'मेरा अस्तित्व पर में गया हो' ऐसा मानकर परद्रव्य की और लक्ष देकर अपना नाश करता है; किन्तु आत्मा में परवस्तु का आकार प्रवेश पाता नहीं है, वैसे ही आत्मा का आकार पर में प्रवेश पाता नहीं है, आत्मा तो सदा स्वक्षेत्र में ही है, उसका अज्ञानी को भान नहीं है।

प्रथम २५३ वें कलश में द्रव्य की बात थी, इस कलश में क्षेत्र की बात है। परक्षेत्र के आकार को जानने का आत्मा का स्वभाव है ही; ज्ञान में परक्षेत्र दिखता है, उस परक्षेत्र को अपना मानकर और अपने को परपने मानकर एकांतवादी अपने स्वरूप का नाश करता है।

आत्मा नित्य असंख्यप्रदेशी है, उसके प्रत्येक प्रदेश में अनंतगुण हैं, उसका क्षेत्र अपने में ही है। भाई! तेरा तेरे में है, तेरा क्षेत्र असंख्य प्रदेशाकार है। इस तरह अपने को भिन्न न मानकर

नवनीत

जब जान्यो निजरूप को, तब जान्यो सब लोक।
नहिं जान्यों निजरूप को, सब जान्यों सो फोक॥(व्यर्थ)
है व्यवहार से देव जिन, निश्चय से है आप।
इसी वचन से समझ ले, जिन प्रवचन की छाप॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

जो परक्षेत्र में एकपना मानता है, उसको आचार्य भगवान ने इस कलश में एकान्तवादी पशु कहा है। स्याद्वाद का जाननेवाला ज्ञानी, स्वक्षेत्र में अपना अस्तित्व मानता है, इससे परक्षेत्र में स्वपने की मान्यता नहीं है, इतना परतरफ का वेग रुक गया है। 'स्वक्षेत्री असंख्य प्रदेशों का पिंड हूँ' ऐसा मानने वाला ज्ञानी स्वक्षेत्र में वर्तता हुआ भी आत्मा में ही आकाररूप बना हुआ परज्ञेयों की साथ एकपना मानता नहीं है किन्तु मेरे ज्ञान में ही पर को जानने की शक्ति है—ऐसा समझ कर स्वद्रव्य में ही रहता है। परवस्तु मेरे ज्ञान का ज्ञेय है, परवस्तु मैं नहीं हूँ किन्तु मेरा ज्ञान ही मैं हूँ—ऐसे अपने ज्ञान का निश्चय व्यापाररूप शक्तिवाला बन कर, स्वद्रव्य में स्थित रहकर स्व को जीवित रखता है—स्वरूप में ही रहता है।

वीतराग होने के पहले शुभराग होता है और शुभराग में निमित्त देव-गुरु आदि भी होते हैं, किन्तु वह राग और राग का निमित्त मेरा नहीं है। मैं परक्षेत्र से भिन्न हूँ, मेरा धर्म मेरे क्षेत्र में ही है, ऐसा न माननेवाला अज्ञानी, स्वभाव को परपने मानकर अपना नाश करता है और ऐसा जाननेवाला ज्ञानी, परपने अपने को नहीं मानकर स्वपने ही अपने को स्थिर रखकर अपना नाश नहीं होने देता।

प्रभो! तेरा क्षेत्र तेरे पास है, परक्षेत्र तुझसे भिन्न है। परक्षेत्र को जानने का तेरा स्वभाव है, किन्तु अन्य कोई तुझमें आ जाता नहीं है, वैसे ही तेरा क्षेत्र अन्य परवस्तु में जाता नहीं है। आत्मा आत्मा के ही क्षेत्र में है। अज्ञानी परक्षेत्र में अपना अस्तित्व मानकर निज का नाश करता है, ज्ञानी स्वक्षेत्र में पर की नास्ति मानकर स्व में टिकता स्थिर रहता है। इस तरह अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है। तत्त्व का ऐसा स्वरूप जो नहीं समझेगा, उसको निगोद में जाना पड़ेगा, और जो समझेगा वह सिद्ध भगवान त्रिलोकनाथ होगा ही। सिद्ध और निगोद ही मुख्य गति है। शुद्ध निश्चयगति सिद्ध है और अशुद्ध निश्चयगति निगोद है, बीच की चारों गतियाँ व्यवहार है, उनका काल अल्प है॥२५४॥

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्।
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन्॥

स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां।
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान्॥२५५॥

ज्ञान का स्वभाव जानने का है, इससे परवस्तु जब ज्ञान में दिखती है, तब अज्ञानी 'मानो कि परवस्तु ज्ञान में घुस गई हो' ऐसे भ्रम से, ज्ञान में जो परवस्तु का आकार दिखता है, उसको निकाल दूं अर्थात् ज्ञान की अवस्था को निकाल दूँ, तब अकेला ज्ञान ही रह जाये—ऐसा मानकर तुच्छ होता हुआ नाश पाता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि ज्ञान में गृह, स्त्री, बालक आदि याद आता है, इससे मुझको राग हुए बिना रहता नहीं है, यह बात बिल्कुल झूठ है। घर का ज्ञान होना राग का कारण नहीं है, किन्तु घर प्रति जो ममत्व भाव है, वह राग का कारण हैं, उससे गृहादि का ज्ञान भले हो किन्तु "यह गृह मेरा है" ऐसी मान्यता को विस्मरण करने का है। ज्ञान को तू किस तरह भूलेगा? भाई! जानने का तो तेरा स्वभाव है, उसमें परवस्तु सहज ही प्रकाशती है, परवस्तु को भूलने का नहीं है किन्तु 'पर मेरा' ऐसी मान्यता को निकाल दो। पर का ज्ञान, राग-द्वेष का कारण नहीं है किन्तु पर मेरा—ऐसी मान्यता ही राग-द्वेष का कारण है, उसी मान्यता को ही बदलने की आवश्यकता है; उसके बदले अज्ञानी परवस्तु को जाननेरूप अपने ज्ञान की अवस्था को निकालने को इच्छता है, किन्तु वह किसको निकालेगा भाई! ज्ञान तो तेरा स्वभाव है, क्षण-क्षण में उसकी अवस्था बदलती है, और उस ज्ञान की अवस्था का ऐसा स्वभाव है कि परपदार्थ उसमें झलकता है, वहाँ अज्ञानी मानता है कि परवस्तु का ज्ञान ही भूल जाऊँ अर्थात् मेरा ज्ञान ही निकाल दूँ। इसी तरह ज्ञेय निकाल दूँ। इस तरह ज्ञेय पदार्थ से मेरे ज्ञान की अवस्था भिन्न है—ऐसा नहीं माननेवाला अज्ञानी, ज्ञान की अवस्था को भी ज्ञेयरूप मानकर अपने ज्ञान की अवस्था को छोड़ना माँगता है, जबकि अनेकान्त धर्म को जाननेवाला ज्ञानी जानता है कि परपदार्थ को जानने पर भी, मेरे ज्ञान की अवस्था ज्ञेय से भिन्न है, मेरे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का प्रवेश नहीं होता है-ऐसे पर से नास्तित्व जानता परवस्तु से अपने को खींचकर स्वक्षेत्र में रहता, राग-द्वेष को त्यागता, स्वक्षेत्र में ही ज्ञान को एकाग्र करता है।

परक्षेत्र ज्ञान में प्रकाशता है, वह तो मेरे ज्ञानस्वरूप का सामर्थ्य है, जानना मेरा स्वरूप है, परक्षेत्र मेरा स्वरूप नहीं है—ऐसा जानता हुआ ज्ञानी, ज्ञान में परपदार्थ प्रकाशता है, तब भी ज्ञान को तुच्छ नहीं मानता है किन्तु ज्ञान का सामर्थ्य मानता है। और भी ज्ञानी का निर्णय है कि मेरे ज्ञान का स्वभाव तो एक समय की एक पर्याय में तीन काल-तीन लोक को जानने का है, ज्ञान का स्वरूप ही जानने का है, जानने के कारण राग नहीं है, किन्तु 'पर में मैं हूँ वा पर मुझमें है' ऐसी मान्यता ही राग-द्वेष का कारण है, अज्ञानी स्वरूप को एक मानकर राग-द्वेष करता रहता है।

परक्षेत्र में रहा हुआ ज्ञेय पदार्थों का आकाररूप ज्ञान की अवस्था होती है। किन्तु 'उस अवस्था को यदि मैं मेरी मानूँगा, तब स्वक्षेत्र में ही रहने के बदले में मैं परक्षेत्र में चला जाऊँगा— ऐसा मानकर अनेकान्त को नहीं जाननेवाला अज्ञानी, परवस्तु की साथ-साथ ही अपने ज्ञान को भी छोड़ देता है और इस तरह स्वयं चैतन्य के आकार ज्ञान की अवस्था से रहित तुच्छ होकर नाश पाता है, और स्याद्वाद को जाननेवाला ज्ञानी, परक्षेत्र में ज्ञान की नास्ति जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता हुआ भी अपने ज्ञान की अवस्था को छोड़ता नहीं है, इससे वह तुच्छ नहीं होता है, किन्तु स्वक्षेत्र में ही स्थित रहता है। वह जानता है कि पर को जानने का मेरा स्वभाव है, पर में मैं नहीं हूँ और पर को जाननेरूप मेरे ज्ञान की अवस्था से मैं भिन्न नहीं हूँ, जो अवस्था है, वह मेरा ज्ञान ही है—ऐसा जानकर वह स्वभाव में ही स्थिर रहता है। इस तरह जानकर स्वभाव में स्थिर रहना ही धर्म है॥२५५॥

पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः॥
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः।
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि॥२५६॥

आत्मा, देह से भिन्न तत्त्व है। देह और आत्मा एक नहीं हैं किन्तु भिन्न हैं। एक आत्मा से देह-मन-वाणी-कर्म और पर-आत्माएँ त्रिकाल-भिन्न हैं। हरेक आत्मा का तत्त्व भिन्न है। जड़ भी भिन्न वस्तु है, प्रत्येक वस्तु भिन्न है, भिन्न वस्तु की शक्ति भी भिन्न है और प्रत्येक की अवस्था भी भिन्न-भिन्न है। आत्मा की अवस्था आत्मा में होती है, शरीर की अवस्था शरीर में होती है। देह और आत्मा एकक्षेत्रावगाही होने पर भी दोनों की अवस्था भिन्न-भिन्न अपने आप होती हैं। यह नहीं जाननेवाला अज्ञानी एकान्तवादी, देह के आश्रित अपना ज्ञान मानता हैं अथवा जब तक देह रहेगा, तब तक मैं रहूँगा और देह का नाश होने पर मेरा भी नाश होगा, इस तरह ज्ञेय पदार्थ से भिन्न ऐसा अपने ज्ञान का अस्तित्व नहीं जानता अत्यन्त तुच्छ होकर नाश पाता है। किन्तु ज्ञेय की अवस्थाओं का नाश होने पर, ज्ञान की अवस्थाएं नाश नहीं पाती हैं। आत्मा तो देह से भिन्न पदार्थ हैं, उसमें ज्ञान, दर्शन, अस्तित्वादि गुण है, उनकी अवस्था समय-समय होती रहती हैं। शरीर जड़ परमाणुओं का बना हैं। परमाणु भी द्रव्य है, द्रव्यपने कायम रहकर अपनी अवस्था बदलते ही रहते हैं।

आत्मा चैतन्य ज्ञानमूर्ति है, शरीर जड़ है, उसमें समय-समय अवस्था बदलती है, वह ज्ञान में दिखती है; उस जगह आत्मस्वभाव का अनजान अज्ञानी जीव, ज्ञेय की अवस्था पलटते ही मैं पलट गया—ऐसा मानता है। शरीर दुर्बल हो जाय-कृश हो जाये, वहाँ वह जानता है कि

मैं कृश हो गया और शरीर, इन्द्रिय का बल बढ़ने पर मेरी शक्ति बढ़ गई। ऐसा माननेवाला अज्ञानी, शरीर से भिन्न आत्मतत्त्व को मानता नहीं है, इससे वह वस्तु का नाश करता है। पर की अवस्था बदलने पर समग्र आत्मा बदल जाता है—ऐसा मानकर अपने भिन्न अस्तित्व को जो नहीं मानता है, वह वस्तु का नाश करनेवाला है।

जहाँ इन्द्रिय शिथिल हो जाय, शरीर कृश हो जाय, वहाँ मैं कृश हो गया—ऐसा माननेवाला आत्मा की स्वतन्त्र शक्ति शरीर से भिन्न है—ऐसा नहीं मानता है। शरीरादि ठीक रहे, तब मैं ठीक रहूँगा—ऐसा माननेवाला ज्ञान की स्वाधीन अवस्था का नाश करता है।

आत्मा स्वाभाविक त्रिकाल स्वतन्त्र वस्तु है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान, अस्तित्व आदि अनन्त गुण हैं, उन गुणों की समय-समय अवस्था होने पर भी, मेरी अवस्था पर से होती है, ज्ञेयाश्रित मेरे ज्ञान की अवस्था होती है—ऐसा माननेवाला निज आत्मा को पराधीन मानता है, त्रिकाल स्वाधीन तत्त्व को पराधीन मानना ही अनन्त संसार का मूल है। प्रथम जाने हुए ज्ञेयपदार्थों का पीछे के काल में नाश होने पर, मेरा ज्ञान भी उसकी साथ नष्ट हो जाता है, ऐसा माननेवाला निजात्मज्ञान की भिन्न सत्ता-भिन्न अस्तित्व मानता नहीं है। अपने समक्ष आई हुई वस्तु की अवस्था समय-समय बदलती हैं, वह स्वज्ञान में प्रकाशने पर ''यह बदल जाने पर मैं भी बदल जाता हूँ'' ऐसा माननेवाला अपने ज्ञान की स्वतन्त्र अवस्था को मानता नहीं है। मुझमें कुछ भी सामर्थ्य ही नहीं है, परवस्तु से ही मेरी जानने की शक्ति थी, ऐसे वह ज्ञान के स्वतन्त्र सामर्थ्य का नहीं मानता है अर्थात् अपने भिन्न अस्तित्व को वह स्वीकार करता नहीं है। शरीर में युवावस्था हो वा वृद्धावस्था हो किन्तु मेरा ज्ञान तो उससे भिन्न है—ऐसा नहीं माननेवाला एकान्तवादी पशु है, इस प्रकार आचार्य महाराज का कहना है।

भाई! तेरा तत्त्व पर से भिन्न है, उसके भान बिना तू क्या करेगा? पूर्व पुण्य से मानो कि बाह्य सामग्री मिली हो, वह तेरी वर्तमान बुद्धि का फल नहीं है, किन्तु जब पूर्व पुण्य जल गया, तब उस सामग्री की प्राप्ति हुई है। वह सामग्री जड़ है, तुझसे भिन्न है, उसकी रक्षा करने पर भी वह नहीं रहेगी, क्षण में नष्ट हो जायेगी, क्योंकि वह तत्त्व स्वतन्त्र है। तेरी अवस्था उसके आधीन नहीं और उसकी अवस्था तेरे आधीन नहीं है।

आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है। स्वतन्त्र तत्त्व की अवस्था पर के आधीन माननेवाला एकान्तवादी अपनी स्वाधीनता का खून करता है। स्याद्वाद का जाननेवाला अनेकान्तवादी जानता है कि आत्मा में समय-समय पर ज्ञान की जो अवस्था होती है, वह मेरे आधीन है; नेत्र मन्द हो, इन्द्रिय शिथिल हो, शरीर कृश हो, तब भी मेरा ज्ञान मन्द नहीं होता है। मेरी अवस्था से मेरा अस्तित्व है, पर की अवस्था मुझसे भिन्न है; इस तरह स्वकाल से अपना अस्तित्व जानता ज्ञानी, वस्तु की

अवस्था के नाश से अपना नाश नहीं मानता है, किन्तु स्व से स्वयं पूर्ण रहता है। मेरी अवस्था मुझसे है, ज्ञेय की अवस्था कुछ भी हो, उससे मेरी अवस्था बदलती नहीं है, बाह्य वस्तु बदल जाने पर भी, मेरा ज्ञान तो पूर्ण ही रहता है।

समय बदलते बुद्धि बदल जाती है, यह माननेवाला पागल है। समय अनुसार धर्म भी बदलते रहते हैं, यह बात तीन काल में नहीं बनती है। वह तो जगत की गप्प है। धनादि चले जाने पर जगत कहता है कि "अफसोस! हमारा सब चला गया, हमारे पास धनादि था, तब सब था।" लेकिन तेरे पास क्या था? धन तो धूलि है, वह तेरा कब था? संसार की रुचि है, उससे धूलि के ढेर को याद करता है किन्तु तीर्थंकर भगवान को याद नहीं करता है कि "भरतक्षेत्र में भी तीर्थंकर भगवान विचरते थे और धर्म का धुरन्धर मार्ग प्रवर्तता था, अहो! वह धर्म काल था।"

अनेकान्त में तो चौदह पूर्व का रहस्य है। इन्द्रिय पुष्ट होवे, शरीर मोटा होवे, धन खूब बढ़े, इससे आत्मा का ज्ञान-श्रद्धान पुष्ट नहीं होता है। अपना स्वरूप कोई भी प्रकार से दूषित नहीं मानकर, मेरा स्वरूप निर्दोष वीतराग सिद्ध समान है—ऐसी श्रद्धा करके जो स्थिर रहता है, उसका आत्मा ही पुष्ट बनता है, अर्थात् शरीरादि कृश होने पर भी ज्ञान उग्र रहता है। पर के साथ मेरा सम्बन्ध तीन काल में नहीं है, परवस्तु मुझसे भिन्न है, पर के पलटने से मैं नहीं पलट जाता हूँ; मैं तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ। जानने में पर अनुकूल हो, तब राग और पर प्रतिकूल हो, तब द्वेष होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। गुड़ की मिठास कभी भी गुड़ से भिन्न नहीं है; वैसे ही मेरा ज्ञान मुझसे भिन्न नहीं है। स्वरूप तो ऐसा ही है किन्तु अज्ञानी उलटा मान रहा है। सामने आयी हुई वस्तु बदलने पर मैं भी बदल जाता हूँ—ऐसा माननेवाला दो वस्तु को एक मानता है, वह आत्मा का श्रद्धान नहीं करता है।

पर का नाश होने पर भी मेरी अवस्था मुझसे है—ऐसा जाननेवाला, अपना अस्तित्व अपने से ही जानता हुआ, ज्ञेय पदार्थ का नाश हो जाने पर नष्ट नहीं होता है। पर के आधीन आत्मा के ज्ञान की अवस्था जो मानता है, वह आत्मा को निर्माल्य और पराधीन मानता है। मेरी अवस्था क्षण-क्षण मुझसे है, उसमें पर की अवस्था नहीं है, ऐसा नहीं जानता हुआ एकान्तवादी, ज्ञेय पदार्थ के नाश से ज्ञान का भी नाश मानता है, और अनेकान्तवादी ज्ञानी तो स्वकाल अर्थात् अपनी अवस्था से अपना अस्तित्व मानता हुआ अपने में ही स्थित रहता है॥२५६॥

अब पर की अवस्था से आत्मा असत् है, यह कहा जाता है—

अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति।

नास्तित्त्वं पलकालोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजी भवन् ॥२५७॥

पर को देखनेवाला, किन्तु अपने को नहीं देखनेवाला एकान्तवादी, ज्ञान में जब तक परवस्तु प्रकाशती है, तब तक ही ज्ञान का अस्तित्व मानता है और ज्ञेय अच्छा रहे तो मैं भी अच्छा रह सकूँ, इस तरह ज्ञेय के आधीन ज्ञान को मानता है, किन्तु परवस्तु से मैं असत् हूँ और मुझसे परवस्तु असत् है—ऐसा नहीं मानता है।

हरेक तत्त्व की अस्ति है; 'अस्ति' कहते ही उसकी परपणे नास्ति है। जो परपणे अपन नहीं है, इस उस पर की ओर लक्ष्य गया है, उससे ही कहता है कि 'भाई! तू तुझसे है-पर से तू नहीं है, तू तुझको समझ तू-तेरा स्वरूप को पिछान।' किन्तु इस तरह 'मेरी अवस्था मुझसे है, पर से नहीं है' ऐसा नहीं मानता, परज्ञेय कायम रहे तो मेरा ज्ञान ताजा रहे—ऐसा मानता है, इससे परविषय में एकाग्र होता है। विषय का अर्थ क्या? शरीरादि तो जड़ वस्तु है, रूपी है, आत्मा चैतन्य अरूपी है, वह रूपी वस्तु का भोग नहीं कर सकता लेकिन वह पर की ओर लक्ष्य करके राग में एकाग्र होता है, यह ही विषय है। आत्मा अरूपी चैतन्यस्वरूपी सर्व पर से भिन्न तत्त्व है। परवस्तु मेरे समक्ष होवे, तब उसका ज्ञान होवे—ऐसा माननेवाला अपने भिन्न ज्ञानस्वभाव को मानता नहीं है।

ज्ञान क्या करे? लक्ष्य करे; इच्छा हो तो उस इच्छा को भी ज्ञान ने जाना। जानने में राग करके रुक गया, तब मान बैठा कि मैंने विषय को भोगा किन्तु उस समय ज्ञान के लक्ष्य में वह आया है और उसकी इच्छा हुई है, यह विषय है। बाहर का पदार्थ अपने आप (स्वाधीनपन से) आता-जाता है, वह आत्मा के आधीन नहीं है। जब आत्मा स्वरूप को भूला, तब पर को रखने की इच्छा हुई, और वह इच्छा की प्रवृत्ति में ठहरा, उसको 'विषय' कहते हैं; अज्ञानी उसमें सुख मानता है, वह अपने स्वाधीन सुख-स्वभाव को मानता नहीं है; बस! यह ही संसार है।

शरीरादि ठीक होवे तो मैं ठीक—इसका अर्थ ऐसा हुआ कि मुझमें सुख है ही नहीं। मैं तो पंगु से पंगु, पराधीन, निर्माल्य हूँ। शरीर पंगु हो तो उसको तो दो लकड़ी का टेका चाहिए लेकिन जो मान्यता में पंगु है, उसको तो अनन्त परवस्तुरूप लकड़ी के टेके की आवश्यकता है। अहो! मैं कौन हूँ, आत्मा क्या है? स्व क्या, पर क्या? उसका भान जिसको नहीं है, उसके जन्म-मरण का अन्त कब होगा? सम्पूर्ण स्वाधीन तत्त्व को जो पराधीन मान बैठा, उसके तो अन्त (छोर) कहीं भी मिलेंगे नहीं। तेरे ज्ञानतत्त्व को ज्ञेय की लालसा न हो! परवस्तु की अवस्था टिके तो मैं टिकूँगा, अन्यथा मेरी अवस्था चली जायेगी! ऐसे जो पर की लालसा रखता है, वह स्वतन्त्र आत्म तत्त्व को अठीक में अठीक मानता है और परवस्तु को ठीक में ठीक मानता है, ऐसा

मूढ़ात्मा बाहर की वस्तु ठीक रहे तो मैं ठीक रहूँगा; इस प्रकार बाहर की वस्तु का रक्षक अपने को मानता है, किन्तु बाहर की वस्तु उसकी मालिकी की कहाँ है कि उसकी रक्षा से वह रहेगी? परपदार्थ का संयोग तो अनन्त बार आया और गया। अनन्त बार बड़ा राजा हुआ और अनन्त बार रंक भी हुआ। कोई भी परवस्तु का परिणमन आत्मा के आधीन नहीं है। देह भी आयु की स्थिति अनुसार रहता है, उसको आत्मा नहीं रख सकता है। कोई भी प्रकार से बाहर की वस्तु स्त्री, धन, बालकादि ठीक रहे तो मुझे ठीक रहे, ऐसे मानकर अज्ञानी जीव बाहर की वस्तु की अवस्था की व्यवस्था ठीक रखने में चित्त को भ्रमाता है, और स्वलक्ष्य चूक जाता है। मेरी अवस्था मुझसे होती है, मेरा और पर का कोई नाता नहीं है, ऐसा नहीं माननेवाला आत्मा की हिंसा करता है।

प्रश्न - कोई जीव को मारा तो नहीं है, तब हिंसा किसकी?

उत्तर - परजीव जीवित रहे वा न रहे, उसकी साथ हिंसा-अहिंसा का संबंध तीन काल में नहीं है। किन्तु परवस्तु की अवस्था इस प्रकार रहे तो ठीक और इस प्रकार न रहे तो अठीक—ऐसा जिसने माना, उसने परवस्तु का परिणमन अपने आधीन माना है, यह ही अनन्ती हिंसा है। परवस्तु की प्रतिकूल अवस्था है, उसका निवारण करूँ, तब मुझको ठीक रहेगा—ऐसा उसने माना किन्तु मेरे राग का निवारण करूँ, तब ठीक—ऐसे स्वतत्त्व को भिन्न नहीं माना उसमें ही हिंसा आ गई।

परकाल अर्थात् पर की अवस्था से मैं नास्तिरूप हूँ और स्वकाल से-स्वपर्याय से अस्तिरूप हूँ; इससे पर बदल जाने पर मैं बदल नहीं जाता हूँ—ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा अपने आत्मा में दृढ़पना से रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान का समूहरूप वर्तता हुआ स्थित रहता है—नष्ट नहीं होता है।

मेरा स्वभाव अविनाशी एकरूप शुद्ध ज्ञायक है। पर की अवस्था बदलने पर भी मैं एकरूप नित्य हूँ। परवस्तु में मेरा अहंपना नहीं है—ऐसी श्रद्धा के भान में परवस्तु प्रति राग-द्वेष नहीं होना, वह ही स्थिरता है और पर से भिन्न आत्मा की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। उससे विरुद्ध (उल्टा) श्रद्धान और वर्तन, वह संसार और सुलटा श्रद्धान और वर्तन, वह मोक्ष है। जो मात्र पर को देखता है, स्व को नहीं देखता है, वह पर के अस्तित्व से अपना अस्तित्व माननेवाला एकान्तवादी है।

जगत के व्यापार में लोग 'खेला' करते हैं; 'समग्र बम्बई शहर का तज-एलायची इत्यादि एकट्ठा करके एक हत्थु जमा करने के बाद अपने मनपसंद भाव से विक्रय करूंगा, ऐसा मानता है किन्तु बाह्य सामग्री का आना या नहीं आना सब पुण्याधीन है, उसमें आत्मा का कुछ सामर्थ्य नहीं है तो भी मैं कर सकता हूँ—ऐसा मानकर संसार में परिभ्रमण करने का 'खेला' करता है।

परवस्तु में थोड़ा भी फेरफार होवे तब "अफसोस! अब मेरा क्या होगा?" ऐसे परवस्तु

की कीमत कर-करके अपने को बिल्कुल निर्माल्य मान बैठा है; किन्तु तू महँगा है कि सस्ता? तुझमें कुछ माल है कि खाली बारदान है? तू गुणवाला है कि गुण से खाली है? बापू! तुझमें अनन्त शक्ति है; पर तो सब विष्टा का बहिवट (व्यापार) समान है। समझ! समझ!! तू स्वतन्त्र तत्त्व है, शान्तिस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है, तुझको पर की जरूरत पड़े, ऐसा तू नहीं है।

घर के घट में जल न होवे, तब तालाब घर में नहीं आता है किन्तु घट लेकर तालाब में से जल भरने के लिये जाना पड़ता है; उसी तरह जिसको आत्मा की गरज हो, सत् समझने की लगन हो, जिज्ञासा हो, वह सत् की खोज करके सुनने के लिये वहाँ जायेगा। जो सत् को समझना चाहता है, उसको सत् अवश्य मिलेगा। लेकिन आत्मा के भान बिना इस जगत की होहा और हरिफाई में मर गया-उसमें से छूटकर जो सत् समझना चाहता है, उसको सत् का निमित्त मिलेगा ही।

जैसे गीर की पहाड़ी में अनेक प्रकार की वनस्पति पकती है, वह आयुष्य लेकर आती है, इससे उसको बढ़ना है, तब उसको वर्षा का निमित्त आये बिना रहता नहीं है; तैसे ही जो सत् समझने के लिये तैयार हुआ, उसको सत् का निमित्त न मिले—ऐसा कभी नहीं बनता। किन्तु साम्प्रत काल में तो कमाना, कमाना और कमाना! गरीबों को कमाना और धनिकों को भी कमाना। आमदानी करने में थोड़ी निवृत्ति लेवें तब तो आत्मा को समझने की दरकार करेंगे! धन में शान्ति कहाँ है? तेरी शान्ति कहीं बाहर में नहीं है किन्तु तुझमें ही भरी है। तेरे स्वभाव की शान्ति के लिये पर की आवश्यकता नहीं। अज्ञानी मानता है कि परवस्तु अनुकूल रहे, तब मुझको शान्ति रहे, यह मान्यता ही उसको शान्ति होने नहीं देती। ज्ञानी को भी जघन्य अवस्था में अस्थिरता हो जाती है, किन्तु वह जानता है कि यह अस्थिरता मेरे स्वभाव में नहीं है और परवस्तु के कारण अस्थिरता नहीं है, मात्र वर्तमान अवस्था की भूमिका अनुसार पुरुषार्थ की हीनता से अस्थिरता आ जाती है। परवस्तु चाहे जैसी परिणमे, किन्तु मैं उससे भिन्न हूँ तो वह मुझको क्या नुकसान करे? इस प्रकार मानकर ज्ञानी तो सहज ज्ञानस्वरूप में ही अपने को टिकाता है। अज्ञानी क्या करता है? किसी पर का अज्ञानी भी किंचित् मात्र नहीं कर सकता है, वह भी मात्र जानता है और जानने में उसकी मान्यता का घोड़ा दौड़ाता है। शरीर कृश होवे, नाड़ी की गति मंद होवे, तब वह कहता है कि मेरा जी (जीव) ऊंडा उतरता है; किन्तु यह तो क्या है? शरीर अलग होते देहदृष्टिवाले को शान्ति किस तरह रहेगी? शरीर के ऊपर दृष्टि होने से शरीर कृश होते ही मानो कि आत्मा ही कृश हो जाता है, ऐसा अज्ञानी मानता है; उससे वह कहता है कि जीव ऊंडा ऊंडा उतर जाता है। किन्तु जीव कहाँ ऊंडा उतरेगा? आत्मा तो शरीर प्रमाण साढ़े तीन हाथ का अमूर्त तत्त्व छूटा पड़ा है। परवस्तु चाहे जैसा फिरे, उससे मैं किंचित् मात्र कृश नहीं होता हूँ, इस तरह

जो जानता है और श्रद्धान करता है, उसके एक तरफ शरीर कृश होगा और दूसरी तरफ आत्मा का आनन्द बढ़ता जायेगा। जीवन में प्रथम से श्रद्धान-ज्ञान किया हो, तब तो अन्त समय में दृढ़ता रह सकती हैं। बिना भान दृढ़ता किसकी करेंगे? प्रथम पिछान की हो तब तो अन्त में वह आकर खड़ी रहेगी! देहादि परवस्तु की कुछ भी अवस्था हो किन्तु मेरा स्वभाव मुझमें है—ऐसा जानता हुआ धर्मात्मा, पर से अपना नास्तित्व मानता हुआ अपना नाश नहीं होने देता, आत्मा में दृढ़पना से रहा हुआ नित्य सहज ज्ञान का एक पुंजरूप वर्तता हुआ स्वपणे स्थिर रहता है। प्रभो! तू तेरे गुण से परिपूर्ण भरा हो! किन्तु तुझको तेरे स्वभाव की पिछान नहीं है, उससे तेरा गुण पर से मानकर अनादि से भ्रमण कर रहा हो; तेरा धर्म तुझमें है, तेरा स्वभाव तुझसे है, पर में तेरी नास्ति है, पर के आधीन तेरा धर्म नहीं है, ऐसे नहीं मानकर जो मूढ़-अज्ञानी-एकान्तवादी, परवस्तु से पुण्य से वा राग से धर्म की आशा रखता है, वह भिखारी है, उसको अनेकान्त की पहिचान नहीं है।

★ ★ ★ ★

धर्मसाधन

पूज्य गुरुदेवश्री के व्याख्यान से

धर्म के लिये प्रधानतया दो वस्तुओं की आवश्यकता है — १. क्षेत्रविशुद्धि, २. यथार्थ बीज।

क्षेत्रविशुद्धि - संसार के अशुभ निमित्तों के प्रति जो आसक्ति है, उसमें मन्दता, ब्रह्मचर्य का राग, कषाय की मंदता, देव, गुरु के प्रति भक्ति तथा सत् की रुचि, आदि का होना क्षेत्रविशुद्धि है। वह प्रथम होना ही चाहिये।

किन्तु केवल क्षेत्रविशुद्धि से ही धर्म नहीं होता। क्षेत्रविशुद्धि तो प्रत्येक जीव ने अनेक बार की है; क्षेत्रविशुद्धि (यदि भान सहित हो) तो बाह्यसाधन है, व्यवहार साधन है।

पहले क्षेत्रविशुद्धि के बिना कभी धर्म नहीं हो सकता। किन्तु क्षेत्रविशुद्धि के होने पर भी यदि यथार्थ बीज न हो तो भी धर्म नहीं हो सकता।

यथार्थ बीज - मेरा स्वभाव निरपेक्ष बन्ध-मोक्ष के भेद से रहित, स्वतन्त्र, पर निमित्त के आश्रय से रहित है; स्वाश्रय स्वभाव के बल पर ही मेरी शुद्धता प्रगट होती है; इस प्रकार से अखण्ड निरपेक्ष स्वभाव की निश्चय श्रद्धा का होना, सो यथार्थ बीज है। वही अन्तर साधन अर्थात् निश्चय साधन है। जीव ने कभी अनादि काल में स्वभाव की निश्चय श्रद्धा नहीं की है। उस श्रद्धा के बिना अनेक बार बाह्य साधन किये, फिर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ।

इसलिये धर्म में मुख्य साधन है यथार्थ श्रद्धा; और जहाँ यथार्थ श्रद्धा होती है, वहीं बाह्य साधन स्वत: प्राप्त होते हैं। बिना यथार्थ श्रद्धा के केवल बाह्य साधन से कभी भी धर्म नहीं होता...।

इसलिये प्रत्येक जीव का प्रथम कर्तव्य आत्मस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा करना है। अनन्त काल में दुर्लभ नर देह, और फिर उसमें उत्तम जैनधर्म तथा सत् समागम का योग मिलने पर भी, यदि स्वभाव बल से सत् की श्रद्धा नहीं की तो फिर चौरासी के जन्म-मरण में ऐसी उत्तम नर देह मिलना दुर्लभ है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि एक बार स्वाश्रय की श्रद्धा करके इतना तो कह कि 'पर का आश्रय नहीं है;' बस, इस प्रकार स्वाश्रय की श्रद्धा करने से तेरी मुक्ति निश्चित है। सभी आत्मा प्रभु हैं। जिसने अपनी प्रभुता को मान लिया, वह प्रभु हो गया।

इस प्रकार प्रत्येक जीव का सर्व प्रथम कर्तव्य सत्समागम होने पर स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा (सम्यग्दर्शन) करना है। निश्चय से यही धर्म (मुक्ति) का प्रथम साधन है।

★ ★ ★ ★

शुद्ध, शुभ और अशुभ का विवेक

प्रश्न - शास्त्र में शुभ-अशुभ को समान कहा है, इसलिये हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है।

उत्तर - जो जीव, शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर उपादेय मानता है और शुद्धोपयोग को नहीं जानता, उसे शुद्धता की अपेक्षा या बंध कारण की अपेक्षा शुभ-अशुभ दोनों को समान बताया है परन्तु शुभ-अशुभ का परस्पर विचार करते हैं तो शुभ भावों में कषाय मन्द होती है, इसलिए बन्ध भी हीन होता है, और अशुभ भावों में कषाय तीव्र होती है, इसलिए उससे बन्ध भी अधिक होता है; इस प्रकार विचार करने पर सिद्धान्त में अशुभ की अपेक्षा शुभ को भला भी कहा गया है।

जैसे रोग, कम या अधिक बुरा ही है, किन्तु अधिक रोग की अपेक्षा कम रोग को भला मानते हैं। इसी प्रकार शुद्धोपयोग के अभाव में अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति करना भी योग्य माना गया है। किन्तु शुभ को छोड़कर अशुभ में प्रवृत्ति करना तो किसी भी तरह योग्य नहीं है।

प्रश्न - कामादिक या क्षुधादिक को मिटाते हुए अशुभरूप प्रवृत्ति हुये बिना नहीं रहती, और शुभ प्रवृत्ति बिना इच्छा किये नहीं होती और ज्ञानी को इच्छा करना इष्ट नहीं है, ऐसी स्थिति में क्या शुभ के लिये उद्यम नहीं करना चाहिये?

उत्तर - शुभ प्रवृत्ति में उपयोग लगने से अथवा उसके निमित्त से विरागता बढ़ने से कामादिक हीन होते हैं, क्षुधादि में भी संक्लेश कम होता है, इसलिये शुभोपयोग का अभ्यास करना योग्य है। उद्यम करने पर भी कामादिक या क्षुधादिक रहे तो उसके लिये वही करना चाहिये जिससे पाप कम लगे; किन्तु शुभोपयोग को छोड़कर नि:शंक पापरूप प्रवृत्ति करना तो योग्य नहीं है।

और तुम कहते हो कि - ''ज्ञानी के इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करने से होता है;'' इसका समाधान यह है कि - जैसे कोई मनुष्य किंचित्मात्र भी धन नहीं देना चाहता; किन्तु वह जहाँ देखता है कि अधिक द्रव्य चला जायेगा, वहाँ इच्छापूर्वक अल्प द्रव्य देने का प्रयत्न करता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता, किन्तु जहाँ अधिक कषायरूप अशुभ कार्य की संभावना देखता है, वहाँ इच्छापूर्वक भी अल्प कषायरूप शुभ कार्य करने का उद्यम करता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जहाँ शुद्धोपयोग होता देखे, वहाँ तो शुभ कार्य का निषेध ही है, किन्तु जहाँ अशुभोपयोग होता ज्ञात हो, वहाँ पर तो प्रयत्नपूर्वक भी शुभ कार्य करना स्वीकार करना उचित है।

★ ★ ★ ★

भक्ति का स्वरूप

सम्यक्तपूर्वक जो देव, गुरु, शास्त्र की भक्ति करता है, उसके मुख्य तो पुण्य ही होता है, साक्षात् मोक्ष नहीं होता, और परम्परा से अर्थात् क्रम-क्रम से शुभभावों को टालता हुआ मोक्ष पाता है। जो सम्यक्त रहित मिथ्यादृष्टि हैं, उनके भाव-भक्ति तो नहीं है, लौकिक बाह्य भक्ति होती है। उसके शुभभावानुसार पुण्य का ही बन्ध है, कर्म का क्षय नहीं।

-परमात्म प्रकाश अध्याय २, गाथा ६१, पृष्ठ २०३

शास्त्र में ऐसा वचन है कि — ''**भवि भवि जिण पुज्जिउ वंदिउ**''

अर्थात् इस जीव ने भव-भव में जिनेन्द्र भगवान को पूजा, गुरु की वन्दना की; फिर भी क्यों कहते हो कि यह जीव भववन में भ्रमण करता हुआ जिनराज स्वामी को नहीं पा सका। शिष्य के इस प्रश्न का समाधान करते हुए सद्गुरु कहते हैं—

इसके कभी भावभक्ति नहीं हुई, भावभक्ति तो सम्यग्दृष्टि के ही होती है, और बाह्य लौकिक भक्ति इसके संसार प्रयोजन के लिये हुई, वह गिनती में नहीं, वह नि:सार है। भाव ही कारण होते हैं, और भावभक्ति मिथ्यादृष्टि के होती नहीं। ज्ञानी जीव ही जिनराज के दास हैं, सो

सम्यक्त बिना-भावभक्ति के अभाव से जिनस्वामी को नहीं पाया, यह निःसन्देह है।

यह संसारी जीव अनादि काल से आत्मज्ञान की भावना से रहित है। इस जीव ने स्वर्ग नरक, राज्यादि सब पाये किन्तु उसे दो वस्तुयें नहीं मिलीं, एक तो सम्यग्दर्शन और दूसरे जिनराज स्वामी। जब तक मिथ्यादृष्टिपना है, तब तक जिनराज स्वामी मिले कहला ही नहीं सकते।

- परमात्म प्रकाश, पृष्ठ २८८

सम्यक्त को भक्ति भी कहा गया है। जब सम्यग्दृष्टि अपने शुद्ध आत्मतत्त्व भावनारूप होता है, तब उसे 'निश्चय भक्ति' कहते हैं और जब सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प नहीं रह सकता, तब वह पंच परमेष्ठि की आराधना हो, ऐसी स्थिति में उसे 'व्यवहार-भक्ति कहते हैं।

- समयसार, पृष्ठ २५०, जयसेनाचार्य-टीका

कोई जीव भक्ति को मोक्ष का कारण मानकर उसमें अति अनुरागी होकर प्रवृत्ति करता है; किन्तु यह तो वैसा श्रद्धान हुआ जैसा अन्य मतावलम्बी भक्ति से मुक्ति मानते हैं। भक्ति तो रागरूप है, और राग से बन्ध होता है, इसलिये वह मोक्ष का कारण नहीं है। रागोदय होने पर यदि भक्ति नहीं करे तो पापानुराग होगा, इसलिये-अशुभराग छोड़ने को ज्ञानी भक्ति में प्रवृत्ति करता है। वह उसे मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्तमात्र मानता है, वहीं उपदेयत्व मानकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता; किन्तु शुद्धोपयोग के लिये उद्यमी रहता है।

श्री पंचास्तिकाय की १३६ वीं गाथा की व्याख्या में भी कहा है कि — अयंहि स्थूल लक्षतया केवल भक्ति प्राधान्यस्य झानिनो भवति। उपरितन भूमिकायामलब्धा सादस्थास्थान राग निषेधार्थ तीव्र रागज्वर बिनाषार्थ वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।

अर्थ—यह भक्ति ऐसे अज्ञानी जीवों के ही होती है, जिनके केवल भक्ति ही प्रधान है; तथा तीव्र रागज्वर मिटाने के लिये अथवा अस्थान के राग निषेधार्थ कदाचित् ज्ञानी के भी होती है।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी के भक्ति की विशेषता होती-होगी?

उत्तर— यथार्थापेक्षा से तो ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं; और रागभाव की अपेक्षा से भक्ति को मुक्ति का कारण जानने से अज्ञानी की श्रद्धा में अति अनुराग है। किन्तु ज्ञानी की श्रद्धा में वैसा अनुराग नहीं है, क्योंकि वह उसे शुभबन्ध का कारण जानता है। हाँ, बाहर से कदाचित् ज्ञानी के भी अधिक अनुराग सा प्रतीत होता है, तो कदाचित् अज्ञानी के भी होता है; यो समझना चाहिये।

-मोक्षमार्ग प्रकाशक

मुद्रक—प्रकाशक :- जमनादास माणेकचंद रवाणी, शिष्ट साहित्य मुद्रणालय,
दासकुंज, मोटा आंकडिया, काठियावाड़, ता. २५-१०-४५